International Journal of Trend in Scientific Research and Development (IJTSRD)
Volume 6 Issue 5, July-August 2022 Available Online: www.ijtsrd.com e-ISSN: 2456 – 6470

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का महत्वपूर्ण माध्यम थी

चंद्रपाल जांदू

सहायक आचार्य, इतिहास, डॉ भीमराव अंबेडकर राजकीय महाविद्यालय, श्रीगंगानगर

सार

प्राचीन भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक रोचक तथा महत्वपूर्ण सभ्यताओं में एक है । इस सभ्यता के समुचित ज्ञान के लिये इसकी शिक्षा पद्धति का अध्ययन करना आवश्यक है जिसने इस सभ्यता को चार हजार वर्षों से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा, उसका प्रचार-प्रसार किया तथा उसमें संशोधन किया ।

प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया । भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत् निर्वाह के लिये शिक्षा की महती आवश्यकता को सदा स्वीकार किया गया । वैदिक युग से ही इसे प्रकाश का स्रोत माना गया जो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा-निर्देश देता है ।

सुभाषित रत्नसंदोह में कहा गया है कि 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को जानने में सहायता करता है तथा सही कार्यों को करने की विधि बताता है ।' महाभारत में वर्णित है कि विद्या के समान नेत्र तथा सत्य के समान तप कोई दूसरा नहीं है (नास्ति विद्यासमं चक्षुनास्ति सत्यसमं तपः) ।

इसे मोक्ष का साधन माना गया है (सा विद्या या विमुक्तये) । सुभाषितरत्न भण्डार में कहा गया है कि जीवन की समस्त कठिनाइयों तथा बाधाओं को दूर करने वाले ज्ञान रूपी नेत्र जिसे प्राप्त नहीं है वह वस्तुतः अन्धा है ।

प्राचीन भारतीयों का यह दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा द्वारा प्राप्त एवं विकसित की गयी बुद्धि ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति होती है । (बुद्धिर्यस्य बलं तस्य) । विद्या के विविध उपयोग बताये गये हैं । यह 'माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकारी कार्यों में नियोजित करती है, पत्नी के समान दुखों को दूर कर आनन्द पहुँचाती है, यश तथा वैभव का विस्तार करती है । यह कल्पलता के समान गुणकारी है ।'

How to cite this paper: Chandrapal Jadu "Ancient Indian Education System was an Important Medium for All Round Development of the Individual" Published in International Journal of Trend in Scientific Research and Development (ijtsrd), ISSN: 2456-6470, Volume-6 | Issue-5, August 2022, pp.682-688, URL: www.ijtsrd.com/papers/ijtsrd50533.pdf

IJTSRD50533

Copyright © 2022 by author (s) and International Journal of Trend in Scientific Research and Development Journal. This is an Open Access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution License (CC BY 4.0) (http://creativecommons.org/licenses/by/4.0)

परिचय

विद्या, विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता (निपुणता) आती है, पात्रता से व्यक्ति धन प्राप्त करता है, धन से धर्म तथा अन्ततोगत्वा सुख की प्राप्ति होती है । 'विद्या को सभी धनों में प्रधान निरूपित करते हुए बताया गया है कि इसे न चोर चुरा सकता है, न भाई बँटा सकता, न राजा छीन सकता है और न ही यह मनुष्य के लिये भारतुल्य होती है । यह ऐसा धन है जो व्यय करने पर भी बराबर बढ़ता है ।' यहाँ तक कि ब्राह्मण भी यदि विद्या रहित है तो वह सूद के समान ही है । विद्या-सम्बन्धी समस्त गुणों का निरूपण करने के पश्चात् भारतीय मनीषियों ने यह घोषित किया कि विद्या से विहीन व्यक्ति वस्तुतः पशु तुल्य है (विद्याविहीनः पशु) । प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन थी ।

इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था । कहा गया है कि शास्त्रों का पण्डित भी मूर्ख है यदि उसने कर्मशील व्यक्ति के रूप में निपुणता प्राप्त नहीं की है (शास्त्रण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा: यस्तु कियावान्पुरुष: सएव) ।[1]

शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीविका का उत्तम साधन प्राप्त करता है । इसे मात्र आजीविका का साधन मानना भारतीयों की दृष्टि में अभीष्ट नहीं था । ऐसी मान्यता वालों की निन्दा की गयी है । प्राचीन विचारकों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के साथ आजीवन चलने वाली वस्तु है ।

सच्चा अध्यापक वह है जो अपने जीवन के अन्त तक विद्यार्थी बना रहता है । इस प्रकार प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्थान का सर्वप्रमुख माध्यम है ।

शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य:

किसी भी प्राचीन ग्रंथ में शिक्षा के उद्देश्यों का आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त के अनुसार वर्णन नहीं प्राप्त होता । तथापि विभिन्न ग्रन्थों

में इससे सम्बन्धित जो उल्लेख मिलते है उनके आधार पर प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों की जानकारी कर सकते हैं ।

इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है:

1. चरित्र का निर्माण:

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना था । भारतीय शास्त्रों में चच्चरित्रता को बहुत अधिक महत्व दिया गया है । यह व्यक्ति का सबसे बड़ा आभूषण है । चरित्र एवं आचरण से हीन व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा की गयी है । मनुस्मृति में वर्णित है कि 'सभी वेदों का ज्ञाता विद्वान् भी सच्चरित्रता के अभाव में श्रेष्ठ नहीं है, किन्तु केवल गायित्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित भी यदि वह चरित्रवान् हैं तो श्रेष्ठ कहलाने योग्य हैं ।'

सत्कर्मो से ही चरित्र का निर्माण सम्भव है । शिक्षा के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान तथा शक्ति प्राप्त करता है उससे उसमें नैतिक गुणों का उदय होता है तथा सन्मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा उसे प्राप्त होती है । भारतीय विचारकों ने चरित्र को विद्वता से अधिक महत्वपूर्ण माना है । महाभारत में एक स्थान पर तो यहाँ तक बताया गया है कि केवल धार्मिक व्यक्ति ही विद्वान् होता है ।

शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य अपनी तामसी तथा पाशविक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखता है । उसमें अच्छे तथा बुरे के विभेद करने की बुद्धि जागृत होती है । वह बुरे कार्यों को त्याग कर अपने को सत्कर्मों में प्रवृत्त करता है । विद्यार्थी के लिये शिक्षा की व्यवस्था कुछ इस प्रकार की गयी थी कि प्रारम्भ से ही उसे सच्चरित्र होने की प्रेरणा मिलती थी और वह तदनुसार अपने को विकसित करता था ।

वह गुरुकुल में आचार्य के सान्निध्य में रहता था । आचार्य न केवल विद्यार्थी की बौद्धिक प्रगति का ध्यान रखता था, अपितु उसके नैतिक आचरण की भी निगरानी करता था । वह इस बात का ध्यान रखता था कि विद्यार्थी दिन-प्रतिदिन के जीवन में शिष्टाचार एवं सदाचार के नियमों का पालन करे । इनमें बड़ों, समानों तथा छोटे के प्रति आचरण सम्मिलित थे ।

इनके द्वारा विद्यार्थी को अपना चरित्र निर्माण करने में सहायता मिलती थी । ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए शौच, आचार, स्नान, सन्ध्योपासना आदि विद्यार्थी के चरित्र के मूल आधार थे जो उसके चरित का उत्थान करते थे ।

विद्यार्थी के समक्ष महापुरुषों जैसे हरिश्चन्द्र, राम, लक्ष्मण, हनुमान, भीष्म तथा सीता, सावित्री, अनसुय्या, द्रौपदी जैसी महान् नारियों के उच्च चरित्र का आदर्श प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसके चरित्र निर्माण में प्रेरणा मिलती थी ।

प्राचीन शिक्षा पद्धति को विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण के लक्ष्य को पूरा करने में सफलता मिली । इसके द्वारा शिक्षित विद्यार्थी कालान्तर में चरित्रवान एवं आदर्श नागरिक बनते थे । भारत की यात्रा पर आने वाले विदेशी यात्रियों-मेगस्थनीज, हुएनसांग आदि सभी ने यहाँ के लोगों के नैतिक चरित्र के समुन्नत होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है ।[2]

2. व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास:

प्राचीन शिक्षा का एक उद्देश्य विद्यार्थी को व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर प्रदान करना था । भारतीय व्यवस्थाकारों ने व्यक्तित्व को दयाने का कभी भी प्रयास नहीं किया । कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यहाँ की शिक्षा पद्धति में कठोर अनुशासन के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को दबा दिया गया जिससे उनका समुचित विकास नहीं हो सका ।

किन्तु रस प्रकार की अवधारणा भारतीय दृष्टिकोण को भली प्रकार से न समझ सकने के कारण है । वस्तुतः यहाँ प्रत्येक युग में व्यावहारिक दृष्टि से वृत्ति के चुनाव की स्वतन्त्रता रही है । स्मृति ग्रन्थों में शिक्षा का को विधान प्रस्तुत किया गया है वह अधिकतर काल्पनिक एवं आदर्शवादी है । व्यावहारिक दृष्टि से उस पर आचरण बहुत कम किया गया ।

प्राचीन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास का भी पूरा ध्यान रखा गया था । 'स्वास्थ्य मस्तिष्क का अधिष्ठान स्वस्थय शरीर होता है' यह धारणा प्राचीन भारतीय चिन्तकों को मान्य थी । शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी में आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास, आत्म-संयम, विवेक-शक्ति, न्याय-शक्ति आदि गुणों का उदय होता था जो उसके व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक थे ।

विद्याध्ययन के पूर्व उपनयन संस्कार के अवसर पर ही विद्यार्थी में आत्म-विश्वास जागृत किया जाता था । उसे यह बोध कराया जाता था कि उसके कर्तव्यों के निर्वाह तथा लक्ष्य की प्राप्ति में देवगण उसकी सहायता करेंगे । अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि वह उसे बुद्धि एवं शक्ति प्रदान करे । सविता उसकी शारीरिक बाधाओं को दूर करते थे ।

इन दैवी शक्तियों से सम्पन्न बह्मचारी भविष्य के प्रति आश्वस्त होकर निष्ठापूर्वक पूरी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का विवाह करता था । भविष्य-जीवन की कठिनाइयों का भय उसे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकता था । विद्यार्थी में आत्मसम्मान की भावना भी बढ़ाई जाती थी । उसे यह याद दिलाया जाता था कि वह अपने जाति एवं देश की संस्कृति का रक्षक है ।

संस्कृति का विकास तभी सम्भव है जबकि वह अपने कर्तव्यों का विधिवत् पालन करे । उसका महत्व इतना अधिक था कि राजा भी उसका आदर करता तथा अपने से ऊँचा आसन प्रदान करता था । वह ब्रह्मचारी को यथेच्छित धन प्रदान करता था । रघुवंश में उल्लिखित है कि राजा रघु ने कौत्स के शिष्य वरतन्तु को चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें उसके मांगने पर प्रदान कर दिया था ।

विद्यार्थी को भविष्य-जीवन की चिन्ता नहीं सताती थी । उसके निर्वाह का उत्तरदायित्व समाज अपने कन्धों पर वहन करता था । ब्रह्मचारी जहाँ कहीं भी जाता उसकी पूजा होती तथा लोग उसके निर्वाह के लिये द्रव्य-प्रदान करते थे । उसका लक्ष्य स्पष्ट एवं सुनिश्चित था । यदि वह व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करता तो उसकी वृत्ति पूर्व निर्धारित थी ।

यदि वह धार्मिक शिक्षा ग्रहण करता तो भी निर्धनता उसके मार्ग में बाधक नहीं थी । उसकी आवश्यकतायें सीमित होती थीं तथा समाज उनकी पूर्ति करता था । विद्यार्थी सादा जीवन एवं उच्च विचार का आदर्श सामने रखता था ।

आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन की प्रवृत्तियाँ भी व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती थीं । उसे अपने इन्द्रियों की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना पड़ता था । आहार, विहार, वस्त्र, आचरण आदि सभी को उसे नियमित करना होता था । शुद्धता एवं सादगी उसके जीवन के मुख्य ध्येय थे ।[3]

गीता में कहा है कि 'यथायोग्य आहार-विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य प्रयास करने वाले, यथायोग्य शयन करने वाले तथा यथायोग्य जागने वाले व्यक्ति के लिये ही योग दुखी का विनाशक बनता है ।' आत्मसंयम से ही व्यक्ति में विवेक एवं न्याय शक्ति का उदय होता है । वह सत्-असत् का भेद करने में समर्थ हो जाता है । इन सभी तत्वों का विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में योगदान होता है ।

भारतीय चिन्तकों ने विद्यार्थी की प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को अनावश्यक दबाने का प्रयास नहीं किया । आत्म-नियन्त्रण एवं आत्मानुशासन से उनका तात्पर्य यथोचित एवं यथावश्यक आहार, विहार, वस्त्राभरण, निद्रा, शयन आदि से था । इससे विद्यार्थी को उच्छृंखल होने से बचाया जाता था । अध्यापक विद्यार्थी को प्रताड़ित करने के बजाय प्रेम एवं सद्भावना द्वारा सन्मार्ग में प्रवृत्त करता था ।

3. नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान:

प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराकर उसे सुयोग्य नागरिक बनाना भी था । अध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार का आयोजन किया जाता था जिसमें आचार्य विद्यार्थी के समक्ष उसके भावी कर्तव्यों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता था ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में इसे इस प्रकार रखा गया है:

सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना । अपने परिश्रम (स्वाध्याय) में आलस्य मत करना । गुरु को दक्षिणा देने के बाद सन्तति उत्पादन की परम्परा को विच्छिन्न मत करना । सत्यमार्ग से विचलित मत होना । धर्म से विचलित मत होना । लाभकारी कार्यों में प्रमाद मत करना । महान् बनने का अवसर न खोना ।

अध्ययन-अध्यापन के कर्तव्यों की उपेक्षा मत करना । देवताओं तथा पितरों के यज्ञ, श्रद्धादि की उपेक्षा मत करना । माता को देवी मानना । आचार्य को देवता मानना । पिता को देवता मानना । अपने अतिथि को देवता समझना । दोष रहित कार्यों को करना, अन्य नहीं । लोगों के अच्छे कार्यों का अनुकरण करना ।

जो कुछ भी दान करना, श्रद्धा, विश्वास, आनन्द, विनम्रता, भय तथा दयालुता से करना । कर्तव्य अथवा आचरण में किसी प्रकार के संदेह होने पर उत्तम विवेक वाले ब्राह्मणों की भाँति आचरण करना । इस प्रकार आचार्य विद्यार्थी को उसके सभी सामाजिक कर्तव्यों का बोध करा देता था ।

अध्ययनोपरान्त वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता तथा आचार्य द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए देश तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था । विभिन्न व्यवसायों में अपनी अलग-अलग आचार सहितायें होती थीं ।

इसमें सामाजिक कर्तव्यों पर विशेष बल दिया गया था । चिकित्सकों से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन के मूल्य पर भी रोग एवं कष्ट का निदान करें । योद्धा वर्ग प्राणोत्सर्ग द्वारा देश एवं समाज की रक्षा करने की शिक्षा प्राप्त करता था ।[4]

विभिन्न शिल्पियों के लिये अलग-अलग आचार सहितायें थीं जिनके द्वारा वे अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हुए समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे । उन्हें यह सलाह दी गयी कि वे केवल अपने स्वार्थ में ही लिप्त न रहें अपितु अपने धन का समुचित भाग परोपकार एवं जनकल्याण के कार्यों में भी व्यय करें ।

4. सामाजिक सुख तथा कौशल की वृद्धि:

भारतीय शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक सुख एवं निपुणता को प्रोत्साहन प्रदान करना भी था । केवल संस्कृति अथवा मानसिकता और बौद्धिक शक्तियों को विकसित करने के लिये ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अपितु इसका मुख्य ध्येय विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों आदि में लोगों को दक्ष बनाना था ।

भारतीय समाज में श्रम विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था । पेशे प्रायः वंशानुगत होते थे । विभिन्न वर्णों के लोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करके अपने-अपने कर्मों में निपुणता प्राप्त करते थे । गीता में वर्णित है कि 'अपने- अपने कर्मों में रत मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है ।'

भारतीय शिक्षा पद्धति ने सदैव यह उद्देश्य अपने समक्ष रखा कि नई पीढ़ी के युवकों को उनके आनुवंशिक व्यवसायों में कुशल बनाया जाये । सभी प्रकार के कार्यों के लिये शिक्षा देने की व्यवस्था प्राचीन भारत में थी । कार्य विभाजन के द्वारा विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों में लोग निपुणता प्राप्त करने लगे जिससे सामाजिक प्रगति को बल मिला तथा समाज में सन्तुलन भी बना रहा ।

5. संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार:

शिक्षा संस्कृति के परिरक्षण तथा परिवर्धन का प्रमुख माध्यम है । इसी के द्वारा प्राचीन संस्कृति वर्तमान में जीवित रहती है तथा पूर्वकालिक परम्पराओं में जीवनी-शक्ति आती है । अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति ने इस उद्देश्य को सम्यक् रूप से पूरा किया । विभिन्न वर्णों के लोगों का कर्तव्य था कि वे अपनी सन्तति को अपने वर्ण से सम्बन्धित सभी प्रकार के शिल्पों एवं प्रगति के विषय में प्रारम्भ में ही शिक्षित कर दें ।

आर्य जाति की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वैदिक साहित्य को सुरक्षित बनाये रखना था । एतदर्थ में यह व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक विद्यार्थी वेदों को कण्ठस्थ करे तथा उसे अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखे । बाह्मणों का एक वर्ग अपने पवित्र ग्रन्थों की स्मृति सुरक्षित रखने को सदा उद्यत रहता था ।

कुछ लोग काव्यशास्त्र, व्याकरण, लौकिक साहित्य, तर्कविद्या, दर्शन में निपुण होकर प्राचीन ज्ञान-विज्ञान को सुरक्षित रखते थे । भारत में वेद तथा अन्य धर्म ग्रंथ जिस प्रकार से आज तक जीवित है उसकी समता किसी अन्य सभ्यता में देखने को नहीं मिलती है ।

भारतीय समाज में वैदिक युग से ही तीन ऋणों का सिद्धान्त प्रचलित हुआ । इसने प्राचीन पीढ़ियों की सर्वोत्तम परम्पराओं को सुरक्षित बनाये रखने तथा उसके प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया । यह माना गया कि जन्म के साथ ही व्यक्ति पर तीन त्रण लद जाते है- देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण ।

इनसे मुक्त होना प्रत्येक का परम कर्तव्य होता है । इसके लिये उसे कुछ कार्यों को सम्पन्न करना पड़ता है । देवऋण से मुक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करने पर ऋषिऋण से मुक्ति ब्रह्मचर्य के पालन से तथा पितृऋण से मुक्ति सन्तानोत्पन्न करने पर मिलती है ।

इन ऋणों के विधान द्वारा इस बात की पूरी व्यवस्था की गयी थी कि भावी पीढ़ियों अपनी प्राचीन संस्कृति तथा परम्पराओं को सुरक्षित रखें तथा उनका प्रचार-प्रसार भी करती रहें । प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं को क्षत रखने के कुछ अन्य उपाय भी थे ।[5]

इनमें स्वाध्याय तथा ऊषि-तर्पण का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है । स्वाध्याय में प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह विद्यार्थी जीवन में अधीत पाठों के कम से कम एक भाग की प्रतिदिन पुनरावृत्ति करे ।

द्वितीय में यह विधान किया गया कि वह प्रातकालीन प्रार्थनाओं में पूर्वकाल के मनीषियों के प्रति कृतज्ञता शापित करे । कालान्तर में जब वैदिक संस्कृत का प्रचलन बन्द हो गया तब लोक भाषा में पुराण आदि साहित्यों को प्रस्तुत किया गया जिनके माध्यम से वैदिक संस्कृति तथा परम्पराओं को सामान्य जन तक पहुंचाया गया । परिणामस्वरूप भारत की प्राचीन संस्कृति जीवन्त रही ।

6. निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना:

भारत की प्राचीन संस्कृति धर्मप्राण रही है जहाँ धर्म ने संस्कृति के सभी पहलुओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है । अतः शिक्षा पद्धति भी धर्म से प्रभावित थी तथा उसका एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जागृत करना था ।

विद्यारम्भ में जो संस्कार होते थे, गुरुकुल में विद्यार्थी के लिये जो अनुष्ठान एवं व्रत निर्धारित थे तथा उसकी जो प्रतिदिन की प्रार्थना होती थी, इन सबके द्वारा उसके मस्तिष्क में पवित्रता एवं धार्मिकता का उदय होता था ।

यह आध्यात्मिक भावना उसे भौतिक जीवन के आकर्षणों से विरत करती थी । वह सत्यनिष्ठा के साथ अपना आचार-विचार संयमित रखते हुये अध्ययन करता था और सुचरित्र का निर्माण करता था । किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्राचीन शिक्षा विद्यार्थियों को संसार त्यागकर सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा देती थी । इसका उद्देश्य विद्यार्थी को सामाजिक जीवन के लिए उपयुक्त बनाना था ।

वैदिक युग में भी बहुत कम लोग आजीवन बह्मचर्य रहते थे । अधिकांश लोग विद्याध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम का अनुमरण करते थे । प्राचीन धर्मग्रन्थों में इसे ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि यह अन्य सभी का पोषक था । सन्यास एवं कायाक्लेश को अधिक मान्यता नहीं मिली ।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के उद्देश्य अत्यन्त उच्च कोटि के थे । शिक्षा-सम्बन्धी प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण मात्र आदर्शवादी ही नहीं, अपितु अधिकांश अंशों में त्यावहारिक भी था । यह व्यक्ति को सांसारिक जीवन की कठिनाइयों एवं समस्याओं के समाधान के लिये सर्वथा उपयुक्त बनाती थी । शिक्षा समाज-सुधार का सर्वोत्तम माध्यम थी ।

अतः भारतीय विचारकों ने सबके लिये इसकी व्यवस्था की थी । प्रत्येक आर्य के लिये उपनयन अनिवार्य था जिससे विद्यारम्भ होता था । वृहदारण्यकोपनिषद् में विहित है कि मनुष्य पितृऋण से मुक्त केवल सन्तानोत्पन्न करने से ही नहीं होता अपितु इसके लिये उसे अपने पुत्रों की उचित शिक्षा की व्यवस्था भी करनी होती थी ।[6]

यह भी कहा गया कि जो माता-पिता अपने बालक को ठीक समय पर शिक्षा नहीं प्रदान करते वे उसके सबसे बड़े वैरी हैं । इन उक्तियों के द्वारा प्राचीन विचारकों ने शिक्षा को व्यापक बनाने का प्रयास किया ।

विचार-विमर्श

शिक्षा के पाठ्यक्रम:

ऋग्वैदिक अथवा पूर्व-वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य का अध्ययन ही था । पवित्र वैदिक ऊचाओं के अतिरिक्त इतिहास, पुराण तथा नाराशसी गाथायें एवं खगोल-विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र आदि भी अध्ययन के विषय थे । वैदिक साहित्य का अध्ययन नौ या दस वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता था । यही उपनयन का भी समय था ।

उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये तथा ये शिक्षा के विषय वन गये । उपनिषद् तथा सूत्रों के युग में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया । इसलिये पदपाठ, कर्मपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि विधियां प्रचलित की गयीं । वैदिक साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने के निमित्त छ वेदांगों की रचना हुई-शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष ।[5]

सूत्र युग के अन्त तक आते-आते वैदिक साहित्य का अध्ययन कम हो गया तथा उसके स्थान पर अन्यान्य विषयों का समावेश पाठयक्रम में कर लिया गया । दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य (रामायण और महाभारत) । व्याकरण, खगोलविद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोतनिर्माण कला के क्षेत्र में प्रगति हुई ।

विभिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों की भी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया । धार्मिक तथा लौकिक विषयों की शिक्षा में समन्वय स्थापित किया गया । इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे ।

अट्ठारह शिल्प निम्नलिखित थे:

1. गायन,
2. वादन,
3. चित्रकला,
4. गणना,
5. नृत्य,
6. गणना,
7. यन्त्र,
8. मूर्तिकला,
9. कृषि,
10. पशुपालन,
11. वाणिज्य,
12. चिकित्सा,
13. विधि,
14. प्रशासनिक प्रशिक्षण,
15. धनुर्विद्या तथा शिक्षा,
16. जादूगर,
17. सर्पविद्या तथा विष दूर करने की विधि,
18. छिपे हुए धन के पता लगाने की विधि ।

वात्स्यायन के कामसूत्र से 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है जिनका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिये अनिवार्य बताया गया है । ये पाकविद्या, शारीरिक प्रसाधन, संगीत, नृत्य, चित्रकला,

सफाई, सिलाई-कढ़ाई, व्यायाम, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित है । कामसूत्र के अतिरिक्त कादम्बरी, शुक्रनीतिसार, ललितविस्तर आदि में भी 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि यहीं शिक्षा के पाठ्यक्रम में चार वेद, छ: वेदांग, 14 विधायें, 18 शिल्प, 64 कलायें आदि सम्मिलित थे । 14 विधाओं से तात्पर्य चार वेद, 6 वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा तथा तर्क से है । हुएनसांग तथा अल्वेरूनी के विवरण से पता चलता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा का भारत में बहुत अधिक प्रचलन था । इन विषयों से सम्बन्धित विद्वानों का समाज में बडा सम्मान था ।

राजदरबार में भी कई ज्योतिषी निवास करते थे । शिक्षा केन्द्रों में धार्मिक विषयों के साथ ही साथ लौकिक विषयों की भी पढ़ाई सुचारु रूप से होती थी । तक्षशिला में वैदिक साहित्य के साथ-साथ अठारह शिल्पों की भी शिक्षा दी जाती थी । इस प्रकार विद्यार्थी साहित्य का अध्ययन करके स्वतन्त्र रूप से जीविका कमाने योग्य बन जाते थे ।[4]

वैदिक युग के प्रारम्भ में शिक्षा मौखिक होती थी तथा पवित्र मन्त्रों को कण्ठस्थ करने पर बल दिया जाता था । पुरोहित वर्ग के लोग विशेष रूप से मन्त्रों को याद कर लिया करते थे । सामान्य जन केवल कुछ प्रसिद्ध मन्त्रों को ही याद किया करता था । कालान्तर में मन्त्रों को याद करने के साथ ही साथ उनकी व्याख्या के गान पर भी बल दिया गया ।

निरुक्त में ऐसे व्यक्ति की निन्दा की गयी है जो मन्त्रों की व्याख्या जाने बिना ही उन्हें याद करते हैं । शास्त्रार्थ के निमित्त गोष्ठियों का आयोजन किया जाने लगा जिसमें विद्यार्थी बहुधा भाग लेते थे । उपनिषद् तथा सूत्रों के समय में वेदों को अपौरुषेय माना गया तथा वैदिक मन्त्रों के शुद्ध-शुद्ध उच्चारण किये जाने पर बल दिया गया ।

साहित्य की व्यापकता के कारण कुछ विद्यार्थी केवल वेदों को याद करते थे तथा कुछ उनकी टीका से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन करते थे । प्राचीन समय में कागज तथा छपाई के साधनों के अभाव में पुस्तकें अत्यन्त महँगी थीं जिससे साधारण विद्यार्थी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते थे । पुस्तकालयों का भी अभाव था । ऐसी स्थिति में मौखिक शिक्षा ही सबसे सरल तथा सही माध्यम थी ।

इस विधि से विद्यार्थी पाणिनीय व्याकरण, अमरकोश, मनुस्मृति, काव्य प्रकाश जैसे राज्यों को कण्ठस्थ कर लेते थे । विद्वान् वही माना जाता था जिसकी जिह्वा पर समस्त विद्यायें रटी हुई हों । प्राचीन काल के लेखक भी यही अभिलाषा रखते थे कि उनकी रचनायें विद्वानों का कण्ठाभूषण बनें ।

गुरुकुल पद्धति:

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है । इसमें विद्यार्थी अपने घर से दूर गुरु के घर पर निवास कर शिक्षा प्राप्त करता था । कभी-कभी वह शिक्षा केन्द्रों से सम्बद्ध छात्रावासों में निवास करता था । इस प्रकार के विद्यार्थियों को 'अन्तेवासी' अथवा 'आचार्य कुलवासी' कहा गया है।

धर्मग्रन्थों में विहित है कि विद्यार्थी उपनयन संस्कार के साथ ही गुरुकुल में निवास करे तथा विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करे । गुरु के समीप रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का एक सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था । गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुये विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था।

वहाँ उसे गुरु के पहले उठना तथा उसके सो जाने पर सोना पड़ता था । गुरु की सेवा करना उसका परम कर्तव्य था । उसकी सेवाओं के बदले में गुरु भी उसके ऊपर व्यक्तिगत ध्यान रखता था तथा पूरी लगन के साथ उसे विविध विद्याओं और कलाओ की शिक्षा प्रदान करता था ।

प्राचीन व्यवस्थाकारों ने गुरु के साथ विद्यार्थी के सान्निध्य के महत्व को समझा था और इसी कारण गुरुकुल पद्धति पर बल दिया । गुरु के चरित्र तथा आचरण का शिष्य के मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता था तथा वह उसका अनुकरण करता था ।[3]

परिवार के वातावरण से दूर रहने के कारण उसमें आत्म-निर्भरता की भावना विकसित होती थी तथा वह संसार की गतिविधियों से अधिक अच्छा परिचय प्राप्त कर सकता था । उसमें अनुशासन की प्रवृत्ति का भी उदय होता था । इसी कारण महाभारत में गुरुकुल की शिक्षा को घर की शिक्षा की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय बताया गया है ।

गुरुकुल सदैव वनों में ही स्थित नहीं होते थे । कुछ प्रसिद्ध मुनियों जैसे बाल्मीकि, कण्व, संदीपनि आदि के आश्रम वनों में ही थे तथा उन्होंने अपने आश्रमों में सैकड़ों विद्यार्थियों को पढाने की व्यवस्था कर रखी थी किन्तु अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में अवस्थित होते थे ।

शिक्षक गृहस्थ थे और स्वाभाविक रूप से वे उन्हें अपने निवास-स्थान के समीप ही रखते थे । यह आवश्यक था कि गुरुकुल ग्राम या नगर में किसी उपवन या एकान्त स्थान पर स्थित हों । दौड शिक्षा केन्द्र अधिकतर नगरों में तथा अग्रहार ग्रामों में थे । तक्षशिला के अध्यापक राजधानी में ही रहा करते थे ।

प्राचीन साहित्य में गुरुकुलों में रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के नाम मिलते है । ज्ञात होता है कि इतिहास के विभिन्न युगों में शिक्षा की गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था । छान्दोग्योपनिषद् से पता चलता है कि उद्दालक आरुणि क पुत्र श्वेतकेतु ने गुरुकुल में रहकर अध्ययन किया था । विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि कृष्ण तथा वलराम ने सन्दीपनि के आश्रम में रहकर अध्ययन किया था ।

रामायण में भरद्वाज तथा बाल्मीकि के गुरुकुलों का उल्लेख मिलता है । महाभारत से ज्ञात होता है कि कण्व तथा मार्कण्डेय ऊषियों के आश्रमों में प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र थे । मुनि दुर्वासा के आश्रम में दस हजार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे । ऐतिहासिक काल में हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला के आचार्य चाणक्य के साथ रहकर शिक्षा प्राप्त किया था ।

गुप्त युग में ब्राह्मणों को जो भूमिदान दिया जाता था उसे अग्रहार कहा जाता था । ये अग्रहार भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे । हर्षचरित में गुरुकुल का उल्लेख मिलता है । अल्वेरूनी के विवरण से पता लगता है कि पूर्व मध्ययुग में शिक्षा प्रदान करने के निमित्त कई गुरुकुलों की स्थापना की गयी थी ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन इतिहास के प्रायः प्रत्येक युग में शिक्षा के लिये गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था । वस्तुतः गुरुकुल उच्च अध्ययन के निमित्त होते थे । जातक गुणों से पता चलता है कि विद्यार्थी प्रायः चौदह-पन्द्रह वर्ष की घड़ी आयु में गुरुकुलों में अध्ययन के निमित्त जाया करते थे । कभी-कभी माता-पिता अपने बालकों को, यदि गुरुकुल उनके निवास-स्थान में ही स्थित होते थे, तो वहाँ रहने के लिये नहीं भेजते थे तथा अपने साथ ही रखते थे ।[2]

इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ अभिभावक अपने बालकों को समीप के शिक्षा केन्द्र को छोड़कर दूरस्थ शिक्षा केन्द्र में अध्ययन के निर्मित प्रेषित करते थे ताकि परिवार का आकर्षण उनके अध्ययन में बाधक न बन सके ।

1. परिणाम

ऋग्वैदिक काल में नैतिक आदर्शो पर अत्यन्त बल दिया गया है । चरित्र की शुद्धता के लिए ऋग्वेद काल में विशेष ध्यान दिया जाता था । असत्य एवं पापाचार को घृणित समझा जाता था । शिक्षा का उद्देश्य सभ्यता और संस्कृति का हस्तान्तरण भी था ।

ब्राह्मण, अर्थात् गुरा विद्यार्थियों को मौखिक शिक्षा देते थे । वैदिक मन्त्रों का पाठ ही ज्ञानार्जन का माध्यम था । इससे विद्यार्थी आत्मशिक्षण भी प्राप्त करते थे । इस युग की शिक्षा का मूल उद्देश्य ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करके मोक्ष प्राप्त करना था ।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चतुवर्ग की प्राप्ति मुख्य ध्येय था । स्वाध्याय एवं मनन की इस शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी बहुधा उपनयन संस्कार के बाद गुरु के आश्रम में ही रहने जाते थे । उनका आपसी सम्बन्ध पिता-पुत्र-सा होता था । गुरु ज्ञान-विज्ञान के पारंगत मर्मज्ञ विद्वान् थे । वे समाज के पथप्रदर्शक थे ।

उत्तर वैदिककालीन शिक्षा: इस काल में विद्यार्थियों के नियमित पठन-पाठन के लिए पाठशालाओं की व्यवस्था थी । उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश देते थे । इस प्रकार वह द्विज बन जाता था । आश्रम में प्रवेश के बाद विद्यार्थी को मेखला बांधनी होती थी । बड़े-बड़े बाल रखने पड़ते थे । वह यज्ञ के लिए समिधा बटोरता, भिक्षाटन भी किया करता था । ब्रह्मचारी विद्यार्थी को श्रम व तप करके विद्योपार्जन करना होता था ।

गुरु विद्यार्थी को हर प्रकार से सत्पथ पर लाने का प्रयास करता था; क्योंकि शिष्यों के पापों के लिए गुरु ही उत्तरदायी होता था । शिष्य गुरु को भगवान् मानकर उनकी सेवा-सुश्रुषा करता हुआ आज्ञा पालन करता था । इस युग की शिक्षा का उद्देश्य श्रद्धा, मेधा, ज्ञान, धन, आयु तथा अमरत्व की प्राप्ति था । उपनिषदों में देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, तर्कविद्या तथा सच बोलने को विशेष महत्त्व दिया गया था ।[1]

2. बौद्धकालीन शिक्षा:

मठों, विहारों में दी जाने वाली बौद्धकालीन शिक्षा का उद्देश्य चारित्रिक गुणों का विकास, ज्योतिष, तर्क, दर्शन था । बौद्धकाल में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, ओदलपुरी के विश्वविद्यालय विश्वप्रसिद्ध थे । यहां 118 विषय पढाये जाते थे । धर्म, दर्शन, न्याय, तर्क, ज्योतिष आदि की शिक्षा कुशल अध्यापक देता था । विद्यार्थी भौतिक उलझनों से दूर शान्त एवं प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा प्राप्त करते थे । इन ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालयों में दूर देशों-चीन, जापान आदि के भी विद्यार्थी अध्ययन हेतु आते थे ।

3. प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य:

प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रारम्भिक एवं व्यापक उद्देश्य चरित्र निर्माण करना था । ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मानव जीवन का सर्वांगीण विकास करना, ताकि भावी जीवन में उसका पूर्ण सदुपयोग कर सकें । विद्यार्थियों को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के बाद अनेक प्रकार के कर्तव्य एवं लोककल्याण के उद्देश्य को पूर्ण करना तथा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति शिक्षा का उद्देश्य था । राष्ट्रीय गौरव व संस्कृति की रक्षा करना भी इस युग की शिक्षा की आवश्यकता थी ।

4. प्राचीन भारतीय शिक्षा की विशेषताएं:

सम्पूर्ण संसार का जगदगुरू कहलाये जाने वाले भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली की विशेषता यह थी कि बालक का 6-7 वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कर दिया जाता था । यज्ञोपवीत हो जाने पर बालक 25 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा ग्रहण करता था ।

ज्ञानार्जन के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति करता था । विद्यार्थी गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा-दीक्षा पूरी होने पर स्नातक बनता था, फिर समावर्तन संस्कार होने के बाद अपने गृहस्थ धर्म का पालन करता था ।

विद्यार्थीकाल में सभी विद्यार्थी भिक्षाटन करते थे । किसी भी वर्ग का विद्यार्थी हो, वह गुरु की परिचर्या करता था । समिधा के लिए लकड़ियां लाना, गुरा की गायों को चराना, इन सब नियमों के पालन का उद्देश्य विद्यार्थियों में समानता की भावना के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, चारित्रिक विकास करना था ।

प्राचीनकाल में गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध भावात्मक होता था । उनका सम्बन्ध पिता एवं पुत्रवत था । शिष्य को गुरु के पहले सोकर उठना होता था । फिर गुरु के सो जाने के बाद उसे सोना होता था । गुरु के आश्रम में अनुशासन एवं कर्तव्य का पूर्ण पालन करना होता था । धनी या निर्धन उनके आहार-विहार तथा रहन-सहन में समानता का ध्यान रखना होता था । गुरुकुल आश्रम प्रणाली की शिक्षा व्यवस्था श्रेष्ठ थी ।

शिक्षा के विषयों में व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भाषा, इतिहास, धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, कृषि, न्याय, तर्क, चित्र, युद्धकला जैसे विषयों के अध्ययन के साथ-साथ वैदिक मन्त्रों को रटना, पिंगल के नियमों को याद करना सिखाया जाता था ।

अध्यापन शैली की विशेषता यह थी कि शिष्य गुरु द्वारा पढाये गये विषयों पर चिन्तन, मनन, तर्क किया करते थे । रहस्यात्मक एवं गूढ़ विषयों को शिक्षक की सहायता से समझ लेते थे । मौखिक परीक्षा प्रणाली प्रचलित थी । वाद-विवाद, प्रश्नोत्तर द्वारा विद्यार्थियों की योग्यता एवं क्षमताओं का मूल्यांकन होता था ।

प्राचीनकालीन शिक्षा में अपाला, घोषा, लोपमुद्रा, विश्ववारा, गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी नारियां अनेक गूढ़तम विषयों पर शास्त्रार्थ करके अपने पाण्डित्य का परिचय देती थीं । वे वाद-विवाद, तर्क-वितर्क में, यज्ञ तथा कर्मकाण्डों में अपने पतियों के साथ सक्रिय रूप से भाग लेती थीं ।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के केन्द्र-प्राचीनकाल में मठ, विहार, उम्रश्रमों, विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों को शिक्षा का केन्द्र माना जाता था, जहां संस्कृत, पालि भाषा की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा केन्द्रों के संचालन के लिए राजा तथा धनिक वर्ग मुक्त हस्त से दान दिया करते थे। उनके अनुदान से ही शिक्षण संस्थाओं की समूची शिक्षा प्रणाली संचालित होती थी।

निष्कर्ष

यह निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीनकालीन शिक्षा व्यवस्था देश में ही नहीं, समूचे विश्व में भी प्रसिद्ध थी। चरित्र निर्माण, आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के उद्देश्य पर आधारित इस शिक्षा प्रणाली की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी।[5]

चीन, जापान, तिब्बत तथा लंका आदि देशों से यहां शिक्षार्थी अध्ययन हेतु आते थे। विभिन्न विषयों के विषय विशेषज्ञ आचार्यों के कारण नालन्दा, तक्षशिला विश्वविद्यालय विश्व में विख्यात थे। इस तरह प्राचीन भारतीय शिक्षा अपने उद्देश्यों एवं व्यावहारिकता के कारण संसार में अनूठी थी।[6]

संदर्भ

[1] भारत में शिक्षा व्यवस्था 2012

[2] कैसी थी पारंपरिक भारतीय शिक्षा पद्धति? (आन्नद सुब्रमण्यम शास्त्री) 2010

[3] Ancient Indian Education: Brahmanical and Buddhist (गूगल पुस्तक ; रचनाकार : राधाकुमुद मुखर्जी) 2011

[4] 18वीं सदी में दुनिया में सबसे अधिक शिक्षा संस्थाएँ भारत में थीं 2002

[5] भारतीय शिक्षा का स्वर्णिम अतीत (हृदयनारायण दीक्षित) 2009

[6] प्राचीन भारत में शिक्षा 2005

International Journal of Trend in Scientific Research and Development
IJTSRD
International Journal of Trend in Scientific Research and Development
ISSN: 2456-6470